ज्ञान की पूंजी पर पूंजी का शिकंजा

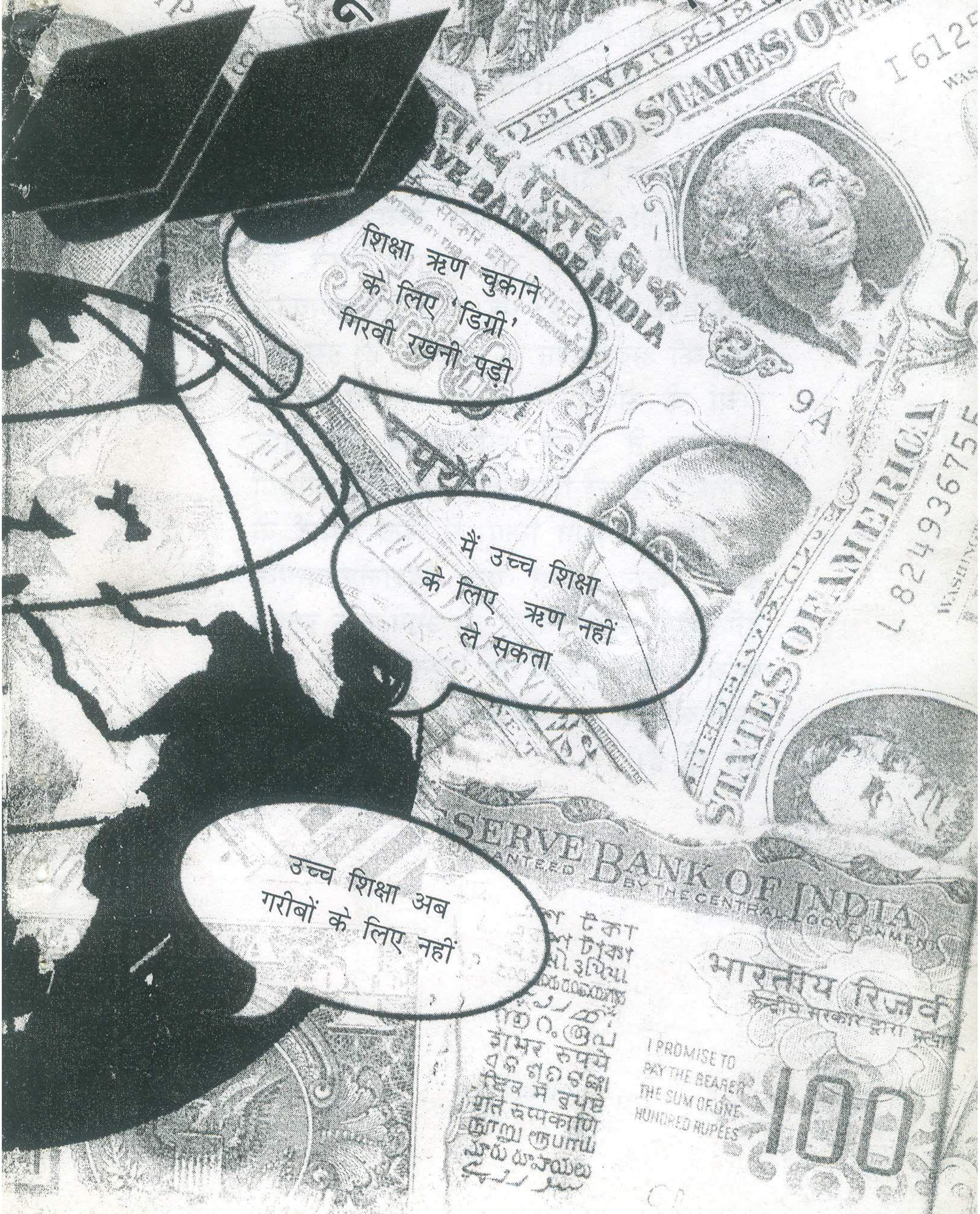

पिछले दिनों शिक्षा जगत में अंबानी-बिड़ला द्वारा तैयार की गई रिपोर्ट 'ए पॉलिसी फ्रेमवर्क फॉर रिफॉर्म्स इन एजुकेशन'' की चर्चा जोर-शोर से रही। दरअसल यह रिपोर्ट कई अन्य चीज़ों के साथ-साथ उच्च शिक्षा में राज्य की भूमिका को समाप्त करने की सिफारिश करती है। यह सोच कल्याणकारी राष्ट्र की अवधारणा के प्रतिकूल है। इस पूरी चर्चा के संदर्भ में राष्ट्रीय सहारा नामक अखबार ने अपने शनिवारीय परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' में कई शिक्षाविदों और बुद्धिजीवियों के लेख प्रकाशित किए। ये लेख रिपोर्ट के तमाम पहलुओं पर एक विशलेषणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। आप तक इनको पहुंचाने के उद्देश्य से 'हस्तक्षेप' के कुछ लेखों को एक पुस्तिका के रूप में हम प्रकाशित कर रहे हैं।

इस शिक्षा का अर्थशास्त्र

अरुण पाण्डेय

मुकेश अंबानी और कुमारमंगलम बिड़ला की शिक्षा रिपोर्ट सन् 2015 के हिन्दुस्तान की जरूरतों को ध्यान में रखकर तैयार की गयी है। यह मानकर चला गया है कि 2015 में देश की कुल आबादी करीब 1 अरब 25 करोड़ होगी। इसमें 5 से 24 वर्ष की आयु वालों की संख्या लगभग 45 करोड़ होगी। 5 से 19 वर्ष की आयु वाले सभी करीब 34 करोड़ लोगों के लिए कक्षा एक से बारह तक की पढ़ाई अनिवार्य करनी होगी और बाकी 11 करोड़ में से कम से कम 2.2 करोड़ लोगों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। इन दोनों उद्योगपतियों का आकलन है कि 19 से 24 वर्ष आयु की कुल 11 करोड़ आबादी का करीब 20 प्रतिशत हिस्सा यानी 2.2 करोड़ छात्र ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने के योग्य होंगे।

इतनी बड़ी संख्या को शिक्षित करने के लिए सन् 2015 तक देश को अतिरिक्त करीब 7 लाख 32 हजार प्राथमिक स्कूल, 23 हजार 600 माध्यमिक स्कूल और उच्च शिक्षा के लगभग 27 हजार से ज्यादा कॉलेज-विश्वविद्यालय खोलने पड़ेंगे। अभी हमारे पास इसके आधे या तिहाई स्कूल-कालेज ही हैं। यानी हमें दो से तीन गुना ज्यादा स्कूल-कॉलेज खोलने पड़ेंगे। एक प्राइमरी स्कूल खोलने की पूंजी लागत 10 लाख रुपये आंकी गयी है। एक माध्यमिक स्कूल और एक उच्च शिक्षा के कॉलेज या संस्थान के लिए यह रकम क्रमशः 20 लाख और 40 लाख रुपये पहुंचेगी। इस तरह कुल करीब 88900 करोड़ रुपये पूंजी व्यय का अनुमान लगाया गया है। चूंकि यह आने वाले 15 वर्षों का लक्ष्य है इसलिए 88900 करोड़ रुपये जुटाने के लिए 15 वर्ष हैं यानी देश को इस मद में प्रतिवर्ष करीब 5900 करोड़ रुपये की राशि सुरक्षित रख देनी पड़ेगी। इस पूंजी व्यय में स्कूल-कालेज का भवन निर्माण, फर्नीचर, संचार उपकरण एवं कम्प्यूटर आदि को शामिल किया गया है। यह अनुमान 1998-99 की कीमतों पर है।

यह तो हुआ पूंजी व्यय। इसके अलावा इस रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि 2015 में शिक्षा का सावधि (रिकरिंग) खर्च सालाना करीब 1 लाख 80000 करोड़ रुपये होगा। इसमें स्कूल-कॉलेजों के संस्थापन खर्चे, दैनंदिन खर्चे,

अध्यापकों का वेतन, पाठ्य-पुस्तकें एवं प्रशिक्षण सामग्री पर खर्च होने वाली धनराशि शामिल है। इस समय हमारे देश में करीब 50 लाख अध्यापक हैं लेकिन 2015 में एक करोड़ से ज्यादा अध्यापकों की जरूरत पड़ेगी। सावधि खर्चों का यह अनुमान भी 1998-99 की कीमतों पर ही आधारित है। सावधि खर्चों और पूंजी व्यय को मिला दिया जाय तो सन् 2015 से देश को शिक्षा पर प्रतिवर्ष तकरीबन 1 लाख 86 हजार करोड़ रुपये खर्च करने पड़ेंगे।

अंबानी-बिड़ला के मुताबिक प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की केंद्रीय जिम्मेदारी सरकार को लेनी चाहिए जबकि उच्च शिक्षा को निजी क्षेत्र के हवाले कर देना चाहिए। इनके द्वारा दी गयी रिपोर्ट में कहा गया है कि प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले कुल व्यय का 90 प्रतिशत भाग सरकार को वहन करना होगा। माध्यमिक शिक्षा के खर्च का आधा सरकार और आधा निजी क्षेत्र वहन करेगा जबकि उच्च शिक्षा पर होने वाले कुल खर्च में अकेले निजी क्षेत्र का योदगान 63 प्रतिशत होगा। इस रिपोर्ट का सर्वाधिक जोर इस बात पर है कि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के खर्चे को तो सरकार समाज कल्याण के नाते उठा सकती है लेकिन उच्च शिक्षा पर व्यय होने वाली समूची धनराशि की उगाही छात्रों और उनके अभिभावकों से ही होगी।

इस रिपोर्ट के मुताबिक सन् 2015 से उच्च शिक्षा पर सालाना कुल करीब 42000 करोड़ खर्च होंगे। इसके अतिरिक्त आने वाले 15 वर्षों में भारत सरकार को नये उच्च शिक्षा संस्थानों के निर्माण में करीब 11 हजार करोड़ रुपये की पूंजी लगानी पड़ेगी। यानी प्रतिवर्ष उसे लगभग 732 करोड़ रुपये का पूंजी निवेश करना होगा। चूंकि बाजार का अर्थशास्त्र इसकी इजाजत नहीं देता कि लगायी गयी पूंजी का ब्याज न वसूला जाय, लिहाजा इसे जोड़ने पर 42000 करोड़ रुपये के सालाना खर्च वाला आंकड़ा हर हाल में 75000 करोड़ रुपये पार कर जाएगा। चूंकि उस वक्त उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों की संख्या लगभग 2.2 करोड़ होगी, लिहाजा यह पूरी धनराशि इन्हीं को अदा करनी होगी। यदि अंबानी और बिड़ला के इस अर्थशास्त्र को स्वीकार कर लिया जाय तो उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले औसतन हर छात्र को प्रतिवर्ष करीब 35 हजार रुपये बतौर फीस देनें पड़ेंगे। ध्यान रहे कि छात्रावास, खाना, कपड़ा-किताब और छात्र जीवन की दैनंदिन जरूरतों पर खर्च होने वाली धनराशि इसमें शामिल नहीं है। अगर इसमें इन सारे खर्चों को भी

शामिल कर लिया जाय तो स्नातक की एक सामान्य डिग्री हासिल करने के लिए एक छात्र को प्रतिवर्ष कम से कम एक-डेढ़ लाख रुपये खर्च करने होंगे। अगर कोई छात्र उच्च शिक्षा अर्जित करने के लिए 5-7 साल विश्वविद्यालय-कॉलेज में गुजारता है तो उसके पिता को सात-आठ लाख रुपये का इंतजाम करके चलना होगा। अगर वह इंजीनियरिंग, मेडिकल, मैनेजमेंट या अन्य व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करना चाहता है तो उसे कम से कम इससे पांच गुनी ज्यादा रकम खर्च करनी पड़ेगी। ध्यान रहे कि अंबानी-बिड़ला का यह आकलन 1998-99 की कीमतों पर आधारित है। सन् 2015 में रुपये की कीमत क्या रहेगी, इसका आप अंदाजा लगा सकते हैं। विशेषज्ञों का मानना है कि 15 वर्षों में इसमें लगभग तीन गुना की वृद्धि होगी और 35 हजार की जगह एक छात्र को बतौर फीस सालाना करीब एक लाख रुपये अदा करने पड़ेंगे। खाने-रहने और कॉपी-किताब का जो खर्च होगा वह अलग है।

अब प्रश्न यह है कि इतनी रकम देकर कौन पढ़ाई करेगा? वही जो करोड़पति पिता का पुत्र है। गरीब या मध्यवर्गीय परिवारों के लड़के उच्च शिक्षा से वंचित हो जाएंगे। अंबानी-बिड़ला ने अपनी रिपोर्ट में सुझाव दिया है कि सरकार चाहे तो गरीबों की शिक्षा के लिए ऋण देने का प्रावधान कर सकती है। अब भला सोचिए कि कौन पिता अपने बेटे को पढ़ाने के लिए 10-15 लाख रुपये का ऋण लेगा? अगर ऋण ले भी लिया तो उसे चुकाएगा कैसे? जिस लड़के की पढ़ाई के लिए वह इतनी रकम खर्च करेगा उसके रोजगार की गारंटी भी नहीं होगी। कर्ज में जन्मा और पला-बढ़ा भारत का गरीब मध्यवर्गीय परिवार कर्ज में ही मर जाने को अभिशप्त होगा। यही है अंबानी-बिड़ला की शिक्षा के अर्थशास्त्र की असलियत।

अंबानी-बिड़ला समिति की सिफारिशें

अखिलेश सुमन

- शैक्षिक कार्यक्रमों में प्राथमिक शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इस लिहाज से प्राथमिक शिक्षा को सभी के लिए आवश्यक बनाया जाय तथा इसे मुफ्त किया जाय। माध्यमिक शिक्षा को भी 15 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिए आवश्यक बनाया जाय।
- शिक्षकों के सतत प्रशिक्षण एवं गुणवत्ता विकास के लिए कानून बनाया जाय।
- सूचना प्रौद्योगिकी तथा कंप्यूटर नेटवर्क से युक्त स्मार्ट स्कूलों की स्थापना की जाय।
- शिक्षकों की भूमिका को प्रोत्साहक एवं उत्प्रेरक के रूप में तब्दील किया जाय तथा बच्चों को अभ्यास एवं अनुभवों के जरिये शिक्षित करने पर जोर दिया जाय।
- माध्यमिक स्तर और उससे ऊपर के विद्यार्थियों को आवश्यक व्यावसायिक शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय।
- औपचारिक शिक्षा के विकल्प के रूप में दूरस्थ शिक्षा को बढ़ावा दिया जाय।
- पूर्व प्राथमिक शिक्षा में नैतिक शिक्षा पर जोर दिया जाय और प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में भी इसे मजबूती से लागू किया जाय।
- स्कूल स्तर पर समान शिक्षा पद्धति लागू की जाय लेकिन उसमें क्षेत्रीय एवं स्थानीय स्तर पर खासकर भाषा, इतिहास एवं सांस्कृतिक विविधता की गुंजाइश रखी जाय।
- शिक्षा के प्रबंधन को विकेंद्रीकृत किया जाय। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा तथा साक्षरता कार्यक्रमों में वित्तीय एवं प्रबंधन की जिम्मेदारी पंचायत स्तर पर हो।
- पेशेगत पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए सैट, जी.आर.ई. एवं जीमैट की तर्ज पर राट्रीय प्रवेश परीक्षाएं आयोजित की जाएं। साथ ही एक संस्थान से दूसरे संस्थान में स्थानांतरण का आधार प्राप्तांक को बनाया जाय तथा इसके लिए माइग्रेशन सर्टिफिकेट (स्थानान्तरण प्रमाण-पत्र) की आवश्यकता को खत्म किया जाय।

- शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रम एवं सुविधाओं को बाजारोन्मुखी बनाया जाय।
- सरकारी स्कूलों में भवन, टेलीफोन एवं कंप्यूटर के लिए प्राथमिकता के आधार पर राशि मुहैया करायी जाय। इसके साथ विश्वविद्यालयों को दी जाने

प्रौद्योगिकी आधारित विश्व व्यवसाय में वृद्धि का आकलन (अरब डॉलर में)

क्षेत्र	वर्ष 2000	वर्ष 2010
एयरोस्पेस	70	160
दवा उद्योग	300	1,100
जियोमेटिक्स	10	60
अत्याधुनिक सामग्री	450	880
कम्प्यूटर उपकरण	189	630
इंटरनेट	843	1,300
साफ्टवेयर	785	2,300
दूरसंचार सेवाएं	270	630
दूरसंचार उपकरण	250	500
रोबोटिक्स एवं मशीनीकरण	5	10
कुल	3,172	7,560
दस वर्षों में वृद्धि	–	4388
विश्व भर का सकल घरेलू उत्पाद	30,000	36,600
विश्व सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि (प्रतिशत में)	11	21
विश्व व्यवसाय में हुई कुल वृद्धि में प्रौद्योगिकी का हिस्सा	–	66%

स्रोत : अंबानी-बिड़ला रिपोर्ट, 2000

वाली वित्तीय सहायता कम की जाय तथा उन्हें आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ाया जाय। इन संस्थानों के पाठ्यक्रम को भी समयानुकूल बनाया जाय।

- सरकार की भूमिका प्राथमिक शिक्षा को राशि प्रदान कर उसे अनिवार्य तथा मुफ्त बनाने, माध्यमिक शिक्षा को राशि प्रदान कर अनिवार्य बनाने, शत-प्रतिशत

साक्षरता लाने, गैर बाजारोन्मुखी शिक्षा की मदद करने, चुने गये उच्च शिक्षण संस्थानों की मदद करने व कोष प्रदान करने, छात्रों को कर्ज दिलाने में वित्तीय गारंटी देने, पाठ्यक्रम तथा उसकी गुणवत्ता में एकरूपता लाने तथा शैक्षिक विकास योजना बनाने तक सीमित किया जाय।

- कम सरकारी सहायता पाने या नहीं पाने वाले संस्थानों का संचालन तथा पाठ्यक्रम चयन में कल्पनाशीलता की स्वतंत्रता दी जाय।
- विज्ञान, तकनीकी, प्रबंधन तथा वित्तीय क्षेत्रों में पढ़ाई के लिए नये निजी विश्वविद्यालय खोलने के लिए निजी विश्वविद्यालय अधिनियिम बनाया जाय।
- वित्तीय उपक्रमों में स्तर निर्धारण के लिए स्टैंडर्ड एंड पूअर्स या क्राइसिल जैसी संस्थाओं की तरह स्कूल, कालेजों, विश्वविद्यालयों या संस्थानों के स्तर को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र एजेंसियों द्वारा समय-समय पर उनकी रेटिंग करायी जाय और उनका स्तर तय किया जाय।
- शिक्षा में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी जाय। शुरु में इसे विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा तक सीमित किया जाय।
- प्राथमिक शिक्षा एवं साक्षरता के लिए शिक्षा विकास कोष की स्थापना की जाय। इस कोष में दिये गये धन को आयकर से मुक्त किया जाय।
- विदेशी छात्रों को आकर्षित करने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों को प्रोत्साहित किया जाय। शुरु में हमारे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति वाले संस्थानों में अंतर्राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की जाय।
- सभी राजनीतिक पार्टियों के बीच इस बात की सहमति बनायी जाय कि वे विश्वविद्यालयों और शिक्षा संस्थानों से दूर रहेंगे। विश्वविद्यालयों एवं अन्य शिक्षा संस्थानों में राजनीतिक गतिविधियों पर पूरी तरह रोक लगायी जाय।
- अर्थव्यवस्था को नियंत्रण मुक्त किया जाय ताकि शिक्षा के लिए बाजार का विकास हो सके।
- स्नातक स्तर और उससे ऊपर हर क्षेत्र में शोध को प्रोत्साहित किया जाय।
- शिक्षकों के विकास के लिए सभी प्रशिक्षित शिक्षकों को एक निश्चित समय तक ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने का प्रवधान किया जाय।
- कामगार तथा वंचित वर्ग के बच्चों को वैकल्पिक शिक्षा देने के लिए विविध कार्यक्रम चलाये जाएं।

इंसान को पूंजी बनाने की साजिश

अनिल सद्गोपाल

"अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा को हमारे शैक्षिक एजेंडा में शीर्षस्थ स्थान दिया जाना चाहिए। अनुच्छेद-45 में इंगित 14 वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा के प्रति संवैधानिक कटिबद्धता को सर्वोच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णय ने यह कहकर पुष्ट किया है कि शिक्षा एक बुनियादी हक है।"

उक्त विचार पढ़कर यह भ्रम पैदा होता है कि ये विचार किसी ऐसे आंदोलन के हैं जो शिक्षा से वंचित भारत की आधी जनता को शिक्षा की सुविधाएं दिलाने के लिए सरकारी जन-विरोधी शिक्षा नीतियों के विरुद्ध संघर्ष का ऐलान कर रहा है। लेकिन अचरज तब होता है जब ये विचार भारत के दो बड़े पूंजीपतियों सर्वश्री मुकेश अंबानी एवं कुमारमंगलम बिड़ला व्यक्त करते हैं। इन्होंने प्रधानमंत्री वाजपेयी के सामने अप्रैल 2000 में प्रस्तुत अपनी रपट में यह विचार व्यक्त किये हैं। ये दोनों पूंजीपति व्यापार एवं उद्योग पर गठित प्रधानमंत्री की सलाहकार परिषद के तहत शिक्षा के क्षेत्र में निजी निवेश की नीति की रूपरेखा बनाने वाले विशिष्ट समूह के सदस्य हैं। उक्त रपट उन्होंने प्रधानमंत्री परिषद के सदस्य की हैसियत से दी है। आगे चलकर यह रपट बाजार-उन्मुख शिक्षा की वकालत करते हुए कहती है कि सरकार बढ़ते क्रम में विश्वविद्यालयों

> *इस रपट का स्पष्ट मानना है कि शिक्षा को सामाजिक विकास के एक अंग के रूप में देखने का वर्तमान सोच हमें छोड़ना पड़ेगा। इसकी जगह हमें शिक्षा को एक ऐसे निवेश के रूप में देखना चाहिए जिसके सहारे एक नये सूचना-आधारित वैश्वीकृत समाज की रचना करना संभव होगा। इसीलिए शिक्षा पर किया जाने वाला खर्च सामाजिक खर्च न होकर, भारत के भविष्य-निर्माण में निवेश होगा। यह रपट की बुनियादी मान्यता है।*

को वित्तीय समर्थन देने में कटौती करती जाय। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भूमिका अनुदान देने की नहीं रहनी चाहिए, सिवाय ऐसे क्षेत्रों के जिन्हें बाजार समर्थन नहीं देगा - मसलन, भारतीय भाषाएं, पुरातत्वशास्त्र, धर्म व दर्शनशास्त्र। कुल मिलाकर रपट का कहना है कि प्राथमिक शिक्षा पर सरकार की भूमिका अधिकतम होनी चाहिए और उच्च शिक्षा पर न्यूनतम। इसी तार्किक क्रम में रपट में नये निजी विश्वविद्यालय खोले जाने हेतु एक निजी विश्वविद्यालय विधेयक बनाने की सिफारिश की गयी है। ऐसे विश्वविद्यालयों की खर्चीली फीस का भार उठाने के लिए रपट विद्यार्थियों को कर्ज देने के प्रावधान करने और एक कर्ज उगाहने वाली एजेंसी खड़ा करने का भी सुझाव देती है। इस तरह एक ओर स्कूली शिक्षा के संदर्भ में समतामूलक सिद्धांतों की पैरवी करती दिखने वाली यह रपट दूसरी ओर खुलकर शिक्षा के निजीकरण की मांग करती है। अब सवाल उठता है कि इन दोनों परस्पर विरोधाभासी स्वरों के बीच क्या कोई तार्किक कड़ी है ? यदि है तो क्या उस कड़ी को पहचाना जा सकता है ?

समस्या इसी मान्यता से शुरु हो जाती है। इस सोच के तहत शिक्षा की सार्थकता मानवीय और सामाजिक विकास के संदर्भ में नहीं देखी जाएगी, वरन् इससे होने वाले आर्थिक लाभों और इसके बाजार पर पड़ने वाले प्रभावों के संदर्भ में आंकी जाएगी। यहां हमें मैकाले को याद कर लेना चाहिए जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारिक हितों के संदर्भ में शैक्षिक उद्देश्यों को ढाला था। आज यह रपट ठीक इसी सोच के तहत वैश्वीकरण व बाजारीकरण के संदर्भ में शिक्षा को ढालने पर जोर दे रही है। इसी मैकालेवादी सोच को आगे बढ़ाते हुए यह रपट कहती है कि शिक्षा के जरिये उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है, प्रजनन दरों को घटाया जा सकता है और गरीब लोगों को ऐसे कौशल दिये जा सकते हैं जिनके सहारे वे अर्थव्यवस्था में हिस्सेदारी कर सकेंगे।

पूरा नजरिया अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण से जुड़ा हुआ है। ज्ञान की परिभाषा भी इसी संदर्भ में है। यानी, वही ज्ञान सार्थक है जो बाजार के वैश्वीकरण में मदद करता है। इस सोच के तहत ज्ञान का सीधा रिश्ता विश्व पूंजी निर्माण के साथ जोड़ा जाता है। ज्ञान ऐसा हो जो बाजार के पक्ष में अनुशासित, प्रशिक्षित, उत्पादक और सस्ता श्रमिक वर्ग तैयार करे और यह श्रमिक वर्ग राजनीतिक रूप से स्थिर व्यापारिक माहौल बनाकर रखे। रपट के अनुसार इंसानी पूंजी के निर्माण में ज्ञान

का यह केवल एक पक्ष हुआ जो यह सुनिश्चित करेगा कि आम आदमी वैश्वीकरण के तहत बिक रही नयी तकनीक को स्वीकारता जाय और उसमें उत्पादक योगदान भी दे। इसके लिए स्कूली शिक्षा जरूरी है। इंसानी पूंजी के निर्माण में ज्ञान की दूसरी भूमिका ऐसा इंसान बनाने में होगी जो नयी तकनीकी के सृजन में योगदान दे। जिस अर्थव्यवस्था में नयी तकनीकी का सृजन होगा, वही अर्थव्यवस्था विश्व का नेतृत्व करेगी। अतः ऐसे इंसान बनाना भी शिक्षा का काम होगा। यह शिक्षा चुनिंदा लोगों के लिए होगी जो विश्वविद्यालयों में दी जाएगी।

भारतीय संविधान को लागू हुए पचास वर्ष हो गये और देश के आधे बच्चे (दो-तिहाई लड़कियां) स्कूली शिक्षा से वंचित है। लेकिन कभी भी राजसत्ता और पूंजीपति वर्ग ने इन बच्चों के पक्ष में देश की प्राथमिकता बदलने और अनुच्छेद-45 को लागू करने की वकालत नहीं की। अब अचानक क्या हुआ है कि विश्व बैंक और यूरोपीय आर्थिक समुदाय से लेकर भारतीय पूंजीपति वर्ग-सभी को गरीब बच्चों को प्राथमिक (कक्षा 1-5) और उत्तर प्राथमिक (कक्षा 6-8) शिक्षा सुलभ करने का महत्व दिखने लगा है ? इस सवाल का उत्तर वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था में न्यूनतम शैक्षिक स्तर वाले श्रमिक वर्ग की भूमिका से जुड़ा हुआ है। अब इन सभी ताकतों को समझ में आ गया है कि यदि श्रमिक वर्ग को न्यूनतम स्कूली शिक्षा नहीं मिली तो सूचना प्रौद्योगिकी

> ***रपट का दूसरा आयाम अभिजात्य एवं मध्यम वर्ग (खासकर ऊपरी मध्यम वर्ग) की शिक्षा से जुड़ा है। इस तबके के लिए उम्दा गुणवत्ता वाली उच्च शिक्षा का प्रावधान है। यह उच्च शिक्षा ऐसी इंसानी पूंजी का निर्माण करेगी जो सूचना प्रौद्योगिकी हेतु निरंतर शोध करेगी और नये ज्ञान का सृजन करते हुए नये पूंजी निर्माण में योगदान देगी। यह संभव करने के लिए रपट ने उच्च शिक्षा के निजीकरण का सुझाव दिया है। रपट उच्च शिक्षा के लिए एक नया सिद्धांत प्रतिपादित करती है कि जो इस शिक्षा का उपयोग करे वह इसकी कीमत भी चुकाये। स्कूली शिक्षा के संदर्भ में यह सिद्धांत प्रस्तावित नहीं किया गया।***

और अन्य नयी तकनीकी को फैलाने का काम रुक जाएगा और वैश्वीकरण व बाजारीकरण की रफ्तार धीमी पड़ जाएगी। अतः इस रपट में जोरदार पैरवी की गयी है कि सरकार संविधान में दी गयी अपनी जवाबदेही पूरी करे, चाहे उसके लिए देश की आर्थिक प्राथमिकताओं में कितने ही बड़े परिवर्तन क्यों न करने पड़ जाएं। रपट यह भी कहती है कि अर्थव्यवस्था को जो मुनाफा प्राथमिक शिक्षा में निवेश करने से मिलता है वह किसी अन्य क्षेत्र (कृषि, उद्योग, रक्षा आदि) में निवेश से नहीं मिलता। अतः शिक्षा में वे सब परिवर्तन कर दिये जाएं जो इस लाभ को अधिकतम कर दें। यह रपट का एक आयाम हुआ।

निजीकरण से उच्च शिक्षा आम आदमी की पहुंच के बाहर हो जाएगी जो खर्चीली फीस का भार उठाने में सक्षम होंगे। उन्हें ही यह शिक्षा मिलेगी। लेकिन रपट लिखने वालों को यह चिंता भी है कि कुशाग्र बुद्धि वाले गरीब बच्चे उच्च शिक्षा से वंचित रह गये तो उनका लाभ पूंजी निर्माण में नहीं मिल पाएगा। अतः रपट का सुझाव है कि सरकार इन बच्चों को उचित शिक्षा हेतु कर्ज व छात्रवृति देने का विराट प्रावधान खड़ा करे। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए भी उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश के लिए अखिल भारतीय स्तर पर प्रवेश परीक्षण हो। इस सुझाव का मकसद पिछड़े तबके (दलित, आदिवासी, अल्प-संख्यक) के लोगों को उच्च शिक्षा से वंचित रखना है। इसका यह भी परिणाम होगा कि देश के पिछड़े क्षेत्रों के मध्यमवर्गीय बच्चों के लिए भी उच्च शिक्षा पहुंच के बाहर हो जाएगी। ठीक यही सुझाव हाल में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा जारी किये गये पाठ्यक्रम की रुपरेखा वाले दस्तावेज में भी है जिसमें एक राष्ट्रीय परीक्षण संस्थान स्थापित करने का प्रस्ताव है।

रपट में छिपा हुआ एजेंडा उसकी भावी योजना से स्पष्ट हो जाता है। सन् 2015 में ऐसी व्यवस्था होगी कि 22.6 करोड़ बच्चे कक्षा आठ तक की शिक्षा पा सकेंगे। लेकिन केवल 11.3 करोड़ कक्षा दस या बारहवी तक की शिक्षा पा सकेंगे। और उच्च शिक्षा केवल 2.2 करोड़ यानी देश के मात्र 6 प्रतिशत बच्चों को मिल पाएगी। ये 6 प्रतिशत बच्चे भी कहीं वैश्वीकरण और विश्व बाजार के दर्शन पर सवाल खड़े करना शुरु न कर दें इसलिए रपट बतौर सावधानी सुझाव देती है कि विश्वविद्यालयों में राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाने वाला एक विधेयक शीघ्र लाया जाय। रपट की यह विडम्बना है कि इसमें एक ओर

सूचना प्रौद्योगिकी हेतु ज्ञान-सृजन की क्षमता पैदा करने के लिए मुक्त चिंतन, शोध, स्वयं सीखना आदि गुणों वाली शिक्षा की वकालत की गयी है। लेकिन दूसरी ओर यही गुण सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में वैश्वीकरण के लिए खतरनाक बन सकता है, यह भी माना गया है।

यदि अंबानी-बिड़ला की यह रपट स्वीकार ली जाती है तो भारत की भावी शिक्षा का रूप स्पष्ट हो जाता है। सन् 2015 में देश के श्रमिक वर्ग के बच्चे (लगभग 63 प्रतिशत) कक्षा आठ तक ही शिक्षित हो पाएंगे और इनके पास मात्र साक्षरता का कौशल होगा। ये गरीब बच्चे वैश्वीकरण द्वारा पैदा की गयी सूचना प्रौद्योगिकी व अन्य तकनीक का उपयोग करने वाले वैश्वीकृत श्रमिक बनेंगे। इन्हें बहुराष्ट्रीय कंपनियां खरीद कर एक देश से दूसरे देश ले जाकर अपने कारखानों में जोत सकेंगी-ठीक उसी प्रकार जैसे 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप और अमरीका ने अफ्रीकी और एशियाई मजदूरों को गुलाम बनाकर खरीदा था। लगभग 31 प्रतिशत बच्चे जो मध्यम वर्ग के होंगे दसवीं या बारहवीं तक पढ़कर वैश्वीकृत बाजार में तकनीशियन बनेंगे और देश के मात्र 6 प्रतिशत बच्चे उच्च शिक्षा पाएंगे। वे ही नयी प्रौद्योगिकी का सृजन करेंगे और वैश्वीकरण बाजार में इस इंसानी पूंजी की कीमत बढ़-चढ़कर लगायी जाएगी। अंततः वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था पर विश्व पूंजी की मालिक बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व बरकरार रखने में यह शिक्षा व्यवस्था मददगार होगी। तो यह है अंबानी-बिड़ली द्वारा प्रस्तावित शिक्षा व्यवस्था में छिपे वैश्वीकरण नव ब्राह्मणवाद और नव मैकालेवाद का स्वरूप और यही है इसका लब्बोलुवाब।

उद्योगपतियों और राजनेताओं का गठजोड़

प्रो. योगेन्द्र सिंह

उच्च शिक्षा में सरकारी भागीदारी को कम किये जाने के पीछे तर्क यह दिया जा रहा है कि इससे शिक्षा का स्तर और गुणवत्ता में बढ़ोत्तरी होगी। निजीकरण की वकालत करने वाली यह मानसिकता खुद में काफी संश्लिष्ट है। निजीकरण किन स्थितियों में उत्पन्न होता है, पहले इसको समझने की कोशिश की जाय। ऐसा तीन वजहों से होता है। सरकार के पास इसके लिए पर्याप्त धन न हो, सरकार की प्राथमिकता बदल रही हो या पुरानी पद्धतियों से होते आ रहे शोध की प्रक्रिया में कुछ ऐसी कमियां परिलक्षित हुई हों जिन्हें निजीकरण के द्वारा दूर किया जा सकता है। यहां सवाल यह खड़ा होता है कि क्या वास्तव में उपरोक्त तीनों तत्व काम कर रहे हैं। अब तक तो सरकार उच्च शिक्षा पर कुल आय का छह फीसदी खर्च करने की अपनी वचनबद्धता ही नहीं निभा पायी है। तो क्या सड़क बनाने की तरह सरकार इस क्षेत्र में भी पैसा न लगाने के बहाने खोज रही है ? दूसरे, उच्च शिक्षा में सरकारी निवेश की कटौती करके क्या उसका उपयोग प्राथमिक शिक्षा में किया जाएगा ? क्या यह बचत इतनी हो सकेगी कि वह प्राथमिक शिक्षा के विभिन्न आयामों को पूरा कर सकने में समर्थ हो ? यदि ऐसा नहीं है तो इस निजीकरण के पीछे असली मंशा क्या है ? अब तक हमारे यहां अलग-अलग क्षेत्रों में छोटे-बड़े जितने शोध हुए हैं वे सरकारी या सरकारी अनुदान प्राप्त संस्थाओं द्वारा ही हुए हैं। कृषि में हरित क्रांति से लेकर रक्षा संकायों की आधुनिकतम तकनीकी तक कई सफलताओं का श्रेय इन्हें ही जाएगा। तो जहां-जहां इनसे चूक हुई है, क्या निजीकरण वास्तव में उन्हें दूर कर पाएगा ? सीमित और तात्कालिक लाभ प्राप्त करने की मंशा शिक्षा को कोई नयी प्रासंगिकता प्रदान करेगी, इसमें संदेह है। क्या तब उच्च शिक्षा में पहले ही से वंचित गरीबों का प्रवेश लगभग असंभव नहीं हो जाएगा ?

ऐसे में निजीकरण की सुगबुगाहट के पीछे वास्तविक कारण क्या हो सकते

हैं ? मेरे विचार में इसका असली कारण नयी मानसिकता, नया वर्ग-संतुलन, उद्योगपतियों और राजनेताओं का गठजोड़ है। आज तक हमारे उद्योगपतियों ने ऐसे किसी भी क्षेत्र में पैसा नहीं लगाया जहां मुनाफा न के बराबर हो। मुनाफाखोरी और बाजार एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। तो क्या इस कथित उत्साह के पीछे वास्तविक तत्व मुनाफाखोरी नहीं है ? पूरे विश्व में आज बाजार उत्पादन-प्रक्रिया की बजाय सेवा-विस्तार में फैल रहा है। कुल निर्यात का 90 प्रतिशत सेवा क्षेत्र से होता हैं। उत्पादों का निर्यात मात्र 10 फीसदी है। अर्थव्यवस्था के भूमंडलीकरण होने से अविकास या अर्द्धविकास अब एक बोझ न रहकर अवसर बन गया है। उसमें बाजार ढूंढा जा रहा है। 'ग्रोथ विदाउट इम्पलायमेंट' (रोजगार बिना वृद्धि) की अवधारणा तेजी से फैल रही है। थोड़े से लोग उच्च तकनीक द्वारा ढेर सारा उत्पादन कर रहे हैं। विकसित देशों में जनसंख्या नियंत्रण से बूढ़ों की तादाद बढ़ रही है। सेवानिवृत्ति की नीतियां बदल रही हैं। वहां 'मैन पावर' की समस्या है। ऐसे में उनका निशाना भारत है जहां पढ़ा-लिखा अंग्रेजी बोलने वाला सस्ता शिक्षित श्रम है। यह बात भारतीय उद्योगपतियों की समझ में भी आने लगी है। जाने क्यों अब उन्हें भारत को 'नॉलेज सोसायटी' बनाने की फिक्र बढ़ने लगी है। इन्हें नहीं मालूम कि सामाजिक प्रक्रियाएं किसी एक की इच्छा या किसी एक पार्टी से निर्धारित नहीं होतीं। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया का हिस्सा होती हैं जिनमें जनशक्ति और जनभार शामिल होते हैं। अभी तो भारत को अपनी बुनियादी क्षमता ही मजबूत करनी है। बौद्धिक कौशल को सब लोगों तक पहुंचाना है। गरीबी रेखा से नीचे रह रहे 40 फीसदी लोगों तक शिक्षा-आरक्षण और कल्याणकारी दूसरी नीतियों का कोई लाभ पहुंच ही नहीं पा रहा। वर्तमान स्थिति यह है कि 30 प्रतिशत मध्यवर्ग 100 फीसदी उच्च शिक्षा का पूरा लाभ गटक रहा है।

तकनीकी ने उत्पादन-प्रक्रिया को जिस तरह बदला है उसमें उत्पाद-निर्माण में लोगों की जरूरत काफी कम हो गयी है। दूसरी तरफ फलते-फूलते मध्यवर्ग की बढ़ती क्रयशक्ति और बाजार के अंधाधुंध विस्तार ने सेवा क्षेत्रों में नये-नये अवसर पैदा किये हैं। इनमें उच्च-शिक्षा भी प्रमुख अवसर है। पैसा लगाने और बनाने के लिए बाजार की प्रासंगिकता शिक्षा में बढ़ने लगी है। इसलिए निजीकरण की बात हो रही है। बाजार का सर्वे हो चुका है। 30 करोड़ का मध्यवर्ग और उसमें भी ऊपर का 8-10 करोड़ वाला उच्च मध्यवर्ग इसके लिए तैयार बैठा है।

पब्लिक स्कूलों में बच्चों की पढ़ाई पर बेइंतहा पैसा खर्च करने वाला यह तबका अपने बच्चों को उच्च शिक्षा भी खर्चीले और विशिष्ट संस्थानों-कॉलेजों में दिलाना चाहता है। उसके लिए पांच सितारा 'अपोलो' जैसे संस्थान बनने ही चाहिए।

अमरीका और यूरोप में 90 प्रतिशत लोग हायर सेकेंडरी के बाद नौकरियां शुरु कर देते हैं। उच्च शिक्षा में वे लोग जाते हैं जो बाजारोन्मुख नहीं हैं या जो बाजार में रहकर कंपनियों के लाभार्थ शोध करते हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता एक भौतिकविद ने एक बार यह चिंता व्यक्त की थी और कहा था कि अनुप्रयुक्त शोधों (अप्लायड रिसर्चस्) की तुलना में तात्विक शोधों (फंडामेंटल रिसर्चस्) का प्रचलन आजकल काफी कम हो रहा है। उच्च शिक्षा के निजीकरण से शोध के क्षेत्र में यह असुंतलन हमारे यहां भी बढ़ सकता है। स्पष्ट है कि निजी संस्थाएं या फर्म उन्हीं कामों में पैसा निवेश करेंगी जहां उन्हें तात्कालिक फायदा दिखेगा। यह हमारी शैक्षणिक व्यवस्था में बाजार द्वारा उत्पन्न एक विचलन होगा। भारत की संरचनात्मक प्रक्रिया जैसी है और उसमें राष्ट्रीय संकल्पना और जनमानस की आकांक्षा जिस तरह जुड़ी है, उस जनतांत्रिक व्यवस्था में यह अपेक्षा करना कि नयी प्रक्रिया अगर कोई आघात पहुंचाती है, तो बहुसंख्यक जनता उसे स्वीकार कर लेगी, गलत है। कई राजनीतिक दल तो इस सवाल को उठाने भी लगे हैं। जाहिर है कि गणतंत्रीय व्यवस्था के विकास में आंदोलन और दबाव की प्रक्रिया का यथेष्ट महत्व है। कोई भी नीति निर्धारित करने से पहले उसे समग्रता और सारे संदर्भों में देखना पड़ेगा। ऐसे में निजीकरण की प्रक्रिया सरकार की पूरक बनकर आती है और उसके अधूरे व अब तक अनछुए पहलुओं पर काम करती है तब तो उसका कोई औचित्य भी है। इसके लिए पहले उसे अपना सामाजिक स्वरूप स्पष्ट करना होगा और स्वयं में एक कल्याणकारी भावना विकसित करनी होगी। क्या ऐसा संभव है ?

नयी दास प्रवृत्ति का सूत्रपात

अनिल चौधरी

प्रधानमंत्री को प्रस्तुत उद्योग और व्यापार परिषद की रिपोर्ट के निहितार्थ को समझने के लिए दो व्यापक बिन्दुओं पर गौर फर्माना बहुत जरूरी है। आज की बाजारोन्मुखी व्यवस्था उन स्रोतों की खोज में है, जिनसे कि 'मुनाफे' को 'अक्षय' (सस्टेनेबिल) बनाया जा सके। यह व्यवस्था अच्छी तरह समझ चुकी है कि कार, फ्रिज, टीवी और वाशिंग मशीन अथवा साबुन, डिटरजेंट, टी वी कार्यक्रमों व चैनलों के जरिये 'मुनाफाखोरी' को अक्षय बनाना संभव नहीं है। न ही सड़कों, पुलों, बिजली संयंत्रों आदि ढांचागत उद्यमों से ऐसा कर पाना संभव है। उत्पादन व ढांचागत दोनों ही प्रकार के उद्योगों की अपनी सीमाएं हैं। इन दोनों से ही एक सीमा से अधिक 'मुनाफा' नहीं निचोड़ा जा सकता। अतः बाजारी ताकतों के लिए जरूरी है कि वे मानव जीवन की उन मौलिक आवश्यकताओं को मुनाफाखोरी का निशाना बनायें, जो शाश्वत हैं, जैसे कि खाद्यान्न, पानी, स्वास्थ्य और शिक्षा। मुनाफाखोरों की इस मुहिम का मार्ग 80 के दशक में अमरीकी राष्ट्रपति रीगन और बरतानवी नायिका थैचर ने प्रशस्त कर दिया था। अरबों डालर के खाद्यान्न बाजार पर चंद कंपनियों का एकाधिकार स्थापित हुआ। इसके बाद सामाजिक क्षेत्र के अंदर मुनाफाखोरी की सेंध लगाने में संयुक्त राष्ट्र संस्थान व विश्व बैंक आदि 200 अरब डालर के शिक्षा बाजार व 80 अरब डालर के पानी के बाजार में निजी पूंजी निवेश के लिए रास्ता साफ करने की कारगुजारी में ओवर टाइम काम कर रहे हैं।

इसी लेख में लेखिका सिंथिया गुट्मान विश्व बैंक के हैरी पेटरसन को उद्धृत करती हैं जो फर्माते हैं – "अभिभावक की अच्छी और अलग दिखने वाली शिक्षा की मांग ही इस क्षेत्र में निजी उद्यम को बढ़ावा दे रही है। अब अपेक्षाकृत गरीब देशों में भी लोग अंग्रेजी और तकनीकी शिक्षा की मांग कर रहे हैं। उन्हें पता चल गया है कि यह दोनों शाश्वत हैं और कुछ देश इन दोनों का भरपूर फायदा उठा रहे हैं। वे आश्वस्त हैं कि निजी क्षेत्र अपने उपक्रम को उनकी अपेक्षाओं के अनरूप ढाल सकता है।"

इस अंक में दिये गये तथ्य व आंकडे बताते हैं कि सन् 1980 में उच्च शिक्षा स्तर पर छात्रों की संख्या 5 करोड़ 20 लाख थी, जिसकी तुलना में सन् 1997 में यह संख्या बढ़कर 8 करोड़ 82 लाख हो चुकी है। यानी छात्र संख्या में वृद्धि लगभग 60 प्रतिशत की हुई है, किन्तु इसी अवधि में विश्व स्तर पर उच्च शिक्षा में होने वाला सार्वजनिक खर्च सकल राष्ट्रीय उत्पाद के 4.9 प्रतिशत से घटकर 4.8 प्रतिशत रह गया है।

विगत 17 वर्षों में मांग और सार्वजनिक खर्च की बढ़ती यह खाई ही उभरते शिक्षा बाजार का सबसे बड़ा कारण है। बाजार की गिद्ध दृष्टि से जीवन के किसी भी पक्ष का बच पाना संभव नहीं है। इसीलिए मई 2000 में कनाडा के बैंकूवर शहर में 'शिक्षा व्यापार मेले' का आयोजन किया गया था। विश्व बाजार के पिछलग्गूओं अम्बानी और बिड़ला की शिक्षा के प्रति यह तत्परता उभरते बाजार में अपनी बिरादरी की पत्ती (स्टेक होल्डर्स) सुनिश्चित करने का ही प्रतिफल है।

दूसरा महत्वपूर्ण सवाल यह है कि भारत के 'विकास पुरूष' 'हृदय सम्राट' 'यशस्वी' आदि करार दिये जाने वाले प्रधानमंत्री को इस प्रकार की परिषद गठित करने और उसे शिक्षा व स्वास्थ्य जैसे विषयों पर अनुशंसाएं करने की खुली

> *यूनेस्को की पत्रिका 'द कूरियर' के नवम्बर 2000 अंक में शिक्षा के विश्व बाजार का अनुमान 200 अरब डॉलर लगाया गया है और पत्रिका की सुर्खियों में शिक्षा को मुनाफाखोरी के अंतिम 'पड़ाव के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस अंक के पृष्ठ 18 पर 'कारपोरेट एम्बिशन' शीर्षक लेख का कहना है ''जैसे-जैसे उदारीकरण की हवा जोर पकड़ती जा रही है, शिक्षा जगत में एक ऐसी शब्दावली जड़ जमाती जा रही है जो सीधे व्यापार जगत से उठायी गयी है। प्रधानाध्यापक प्रबंधक की भूमिका अख्तियार करते जा रहे हैं तो अभिभावक नकचढ़े ग्राहक की और स्कूल प्रभावी व गुणवत्तापूर्ण सेवा प्रदान करने की प्रतिस्पर्धा में यूं लिप्त हैं, जिससे मुनाफा भी हो रहा है और बाज़ार के लिए उपयुक्त स्नातक भी पैदा हो रहे हैं।''*

छूट देने की क्या गरज पड़ी थी ? यह मसला सिर्फ शिक्षा जगत से नहीं बल्कि हमारे संसदीय प्रजातंत्र की मूल भावना के प्रकटीकरण से भी जुड़ा हुआ है। जब संसद है, मंत्रिमण्डल है, मंत्रालय है और उनसे संबद्ध सांसदों की समितियां हैं तब सीधे प्रधानमंत्री की छत्रछाया में उद्योगपतियों के एक समूह को हितसाधन हेतु वैधता देने की क्या मजबूरी है ? कुछ लोगों के लिए यह आश्चर्य की बात हो सकती है, किन्तु जो विश्व व्यवस्था की धड़कनों से वाकिफ हैं, वे महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा रखने वाले देश भारत की इस लाचारी को बखूबी समझ सकते हैं।

मसला कुछ यूं है। विश्व व्यवस्था के जिन सोपानों पर चढ़ने का सपना हमारे राजनेता पाले हुए हैं उसके साकार हो पाने की कुछ पूर्व शर्तें हैं, जिन्हें साम, दाम दण्ड, भेद जैसे भी हो इन शासकों को पूरा ही करना होगा। ये शर्तें विश्व व्यवस्था के शिखर पर विराजमान मुल्कों द्वारा तय की गयी हैं और इनके प्रचार-प्रसार में इस व्यवस्था के सभी तंत्र एक ही सुर और ताल में संलग्न हैं। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और इन दोनों की चारण संयुक्त राष्ट्र की कुछ संस्थाओं ने 'सुशासन' (गुड गवर्नेंस) के कुछ मानदण्ड तय कर रखे हैं जिन्हें हर उस राष्ट्र को हासिल करना लाजिमी है, जो विश्व बाजार के सरगना अमरीका से 'अति प्रिय राष्ट्र' (मोस्ट फेवर्ड नेशन) का तमगा प्राप्त करने की ख्वाहिश रखता है। इन मानदण्डों के मुख्य सूत्र हैं: आर्थिक फैसलों को राजनीतिक प्रक्रियाओं से परे रखना, कार्यपालिका का स्थायित्व सुनिश्चित करना, शासन की प्रक्रिया में विशेषज्ञों की भूमिका को जनप्रतिनिधियों के समतुल्य स्थापित करना और निर्णय प्रक्रिया में 'पत्तीदारों' (स्टेकहोल्डर्स) की भागीदारी सुनिश्चित करना।

पहले दो मसलों पर यशस्वी प्रधानमंत्री की पीड़ा के प्रकटीकरण से तो हम सब बखूबी वाकिफ हैं। तीसरे मानदण्ड के लिए तो संवैधानिक चोर दरवाजे ही काफी रहे हैं जिनके जरिये विदेश मंत्री, विनिवेश मंत्री, विधि मंत्री, सूचना तकनीक मंत्री आदि कुर्सीनशीं हैं। अभी हाल के वर्षों में पी.एम.ओ. का बढ़ता आकार, रुतबा और कार्यदलों, समितियों व परिषदों की बढ़ती भूमिका के जरिये विशेषज्ञों को जनप्रतिनिधियों के समकक्ष लाने के प्रयास भी जारी हैं। इन परिवर्तनों का वैधानिक आधार तैयार करने के काम में 'संविधान समीक्षा' के लिए बनाया गया आयोग शिद्दत से काम कर रहा है।

प्रधानमंत्री की उद्योग एवं व्यापार परिषद का गठन 'सुशासन' की चौथी शर्त 'पत्तीदारों' की भागीदारी सुनिश्चित करने का नायाब नमूना है और उसे ऐसे ही देखा समझा जाना चाहिए। शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे विषयों पर भी सरकार उद्योग एवं व्यापार परिषद से सलाह कर रही है। अब शिक्षा यदि व्यापार और उद्योग है तब उसके सबसे बड़े पत्तीदार वहीं होंगे जो उसमें निवेश करेंगे, जबकि शिक्षक की हैसियत शिक्षा जगत के मजदूर की होगी और छात्र व अभिभावक की हैसियत ग्राहक की। मजदूर और ग्राहक दोनों की ही हैसियत सत्ता समीकरण में क्या होती है यह सब जानते हैं। इसीलिए प्रधानमंत्री ने इन दोनों समूहों से सलाह करने की जरूरत नहीं समझी। प्रस्तुत रिपोर्ट को इन्हीं संदर्भों में ही देखा जाना चाहिए। जहां तक प्रस्तुत रिपोर्ट की सिफारिशों का सवाल है तो उनमें सबसे घातक और दूरगामी सिफारिश शिक्षा से ऋण बाजार को सुदृढ़ और विस्तृत करने की है। इससे शिक्षा के व्यापार में मुनाफे की तो गारंटी होगी, लेकिन आने वाले समय में जो बच्चे इस व्यवस्था से पढ़ेंगे, लिखेंगे, उनके लिए अपने मूल्यों, विचारों और इच्छाओं के अनुरूप काम करने की गुंजाइश नहीं होगी। पढ़-लिखकर इसी बाजारी व्यवस्था में खप जाना उनकी नियति होगी, क्योंकि पढ़ाई के लिए लिया गया कर्ज जो लौटाना होगा ! यह एक नये प्रकार की दासता का सूत्रपात होगा। उस सवालिया संस्कृति का सर्वथा विलोप हो जाएगा, जो किसी जनतांत्रिक नागरिक समाज के लिए आवश्यक होती है।

राजनीति खत्म करने की राजनीति

आनंद प्रधान

''हमारे विश्वविद्यालय राजनीति के अखाड़े (हॉटबेड ऑफ पॉलिटिक्स) बन गये हैं। विश्वविद्यालयों में शिक्षक से राजनेता बन गये शिक्षक ही मुख्य रूप से उच्च शिक्षा के गिरते स्तर के लिए जिम्मेदार हैं। विश्वविद्यालय यूनियनों को राजनीतिक कैरियर बनाने की पौधशाला के रूप में देखा जाता है। इस गंभीर बीमारी के इलाज के लिए जरूरी है कि सभी राजनीतिक दलों के बीच यह समझदारी बने कि वे विश्वविद्यालयों और शैक्षणिक संस्थाओं से दूर रहेंगे। यह एक काल्पनिक विचार लग सकता है लेकिन इस दिशा में पहले ही पहल की जानी चाहिए थी। यह भी बहुत जरूरी है कि विश्वविद्यालय परिसरों और शैक्षणिक संस्थाओं में हर तरह की राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाने के लिए कानून बनाया जाय।''

-अंबानी-बिड़ला समिति की रिपोर्ट के अंश

अंबानी बिड़ला समिति द्वारा व्यक्त उपरोक्त विचार और सुझाव इस अर्थ में बहुत चौंकाते नहीं हैं क्योंकि वे पहली बार नहीं व्यक्त किये जा रहे हैं। इससे पहले भी ऐसे विचार शिक्षा पर गठित कई समितियों ने व्यक्त किये हैं या विभिन्न किस्म के सार्वजनिक मंचों और कारपोरेट मीडिया में दुहराये जाते रहे हैं। अलबत्ता इस बार जो फर्क है वह यह है कि अंबानी-बिड़ला समिति ने बिना किसी लागलपेट और शब्दजाल के बिल्कुल स्पष्ट और मुंहफट अंदाज में विश्वविद्यालयों व शैक्षणिक परिसरों से राजनीति के सफाये की मांग उठायी है। जाहिर है कि यह सिर्फ संयोग नहीं है कि अंबानी बिड़ला समिति की यह मांग एक ऐसे समय में आयी है जब उच्च शिक्षा के निजीकरण/अभिजात्यीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के साथ-साथ देशभर में परिसरों के सैन्यीकरण का अभियान भी जोरशोर से जारी है। यह दृष्टिकोण देश में मौजूद हर समस्या के

लिए राजनीति, विशेषकर लोकतांत्रिक राजनीति व उनकी संस्थाओं को जिम्मेदार ठहराने की गैरलोकतांत्रिक व निरंकुशतावादी सोच की ही एक और अभिव्यक्ति है। राजनीति को गाली देना एक लोकप्रिय फैशन हो गया है। राजनीति को हर किस्म की बुराई का पर्याय बना दिया गया है। गोया राजनीति न हो तो देश की हर समस्या खुद-ब-खुद हल हो जाएगी, लोगों की सभी मुश्किलों का अंत हो जाएगा और देश सुख-समृद्धि के सुशासन की ओर बढ़ चलेगा।

दरअसल, राजनीति की ऐसी नकारात्मक और बुरी छवि पेश करने के पीछे भी एक राजनीति है। इस राजनीति का मकसद है लोकतांत्रिक राजनीति और उसकी तमाम संस्थाओं को बदनाम करके लोगों की निगाह में गिराना यानी उसकी विश्वसनीयता व साख को खत्म कर देना। इससे लोकतांत्रिक राजनीति को खत्म करने में बहुत आसानी हो जाती है। लोकतांत्रिक राजनीति के सफाये का उद्देश्य है भूमंडलीकरण, उदारीकण और निजीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के मार्ग को निष्कंटक बनाना। स्पष्ट है कि परिसरों से राजनीति को बेदखल करने की मांग एक बड़े प्रोजेक्ट का हिस्सा है। मामला सिर्फ परिसरों का ही नहीं है, उद्योगों व कारखानों से भी राजनीति के निष्कासन (श्रम कानूनों व ट्रेड यूनियन अधिकारों के ऊपर बढ़ते हमलों के जरिये) की मांग हो रही है। यही नहीं, पूरी अर्थनीति को राजनीति से अलग करने या मुक्त करने की मांग बढ़ती ही जा रही है। यह मांग किस सीमा तक पहुंच गयी है इसका अंदाजा वाजपेयी सरकार द्वारा संसद में प्रस्तुत वित्तीय उत्तरदायित्व व बजट प्रबंधन विधेयक से लगाया जा सकता है जो वस्तुतः अर्थनीति को राजनीति से स्वतंत्र कराने का ही प्रस्ताव है। इस विधेयक के जरिये इस बात की पक्की व्यवस्था कर दी गयी है कि संसद में भी कम से कम आर्थिक मुद्दों पर कोई राजनीति न हो सके। इससे साफ है कि चीजें किस ओर जा रही हैं।

जब अंबानी-बिड़ला समिति के सुझावों के अनुरूप उच्च शिक्षा के निजीकरण और बाजारीकरण के अभियान को आगे बढ़ाया जाएगा तो परिसरों में उसका विरोध होगा। शिक्षक और छात्र इसके खिलाफ सड़कों पर उतरेंगे और अपने हितों की रक्षा की कोशिश करेंगे। इस सम्भावित लड़ाई के संकेत साफ दिखायी पड़ रहे हैं। अंबानी-बिड़ला समिति को इसका पूर्वानुमान था, इसलिए इस विरोध को बदनाम करने के लिए विश्वविद्यालयों को राजनीति का अखाड़ा, विश्वविद्यालय

यूनियनों को राजनीतिक कैरियर बनाने की पौधशाला और शिक्षकों को राजनेता बताते हुए विश्वविद्यालय के गिरते स्तर के लिए जिम्मेदार ठहराने की कोशिश की गयी है ताकि परिसरों से उठने वाली विरोध की हर आवाज को इस तर्क के आधार पर आसानी से कुचला जा सके कि शिक्षक, विद्यार्थी और कर्मचारी राजनीति कर रहे हैं। गोया राजनीति करना कोई पाप हो।

परिसरों से राजनीति के सफाये की यह राजनीति सत्ता-प्रतिष्ठान को भी बहुत अनुकूल बैठ रही है। सत्ता प्रतिष्ठान में बैठे शासक अभिजात्यों को इस बात की आशंका है कि आने वाले दिनों में भूमंडलीकरण-उदारीकरण-निजीकरण की राजनीति के खिलाफ बड़े जन आंदोलन खड़े हो सकते हैं और इन आंदोलनों में परिसरों को राजनीतिक गतिविधियों से दूर रखने की वकालत को सत्ता प्रतिष्ठान का पूरा समर्थन प्राप्त है। वह अपने तरीकों से परिसरों को घेर रहा है। एक ओर, गैर शैक्षणिक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के नाम पर परिसरों में कोला-पिज्जा-एम. टीवी की अराजनीतिक संस्कृति को खूब बढ़ावा दिया जा रहा है और दूसरी ओर, परिसरों का जमकर सैन्यीकरण हो रहा है।

परिसरों के सैन्यीकरण की परिघटना पर अलग से विचार बहुत जरूरी है। पिछले एक दशक में यह परिघटना अलग-अलग परिसरों में अलग-अलग रूपों में सामने आयी है लेकिन सब को मिलाकर देखें तो एक सम्पूर्ण तस्वीर बनती है। सैन्यीकरण की यह प्रक्रिया परिसरों को बदनाम करने से शुरू हुई। विश्वविद्यालयों की ऐसी छवि कारपोरेट मीडिया के जरिये पेश की गयी मानो परिसरों में हिंसा, गुंडागर्दी, तोड़फोड़ के अलावा और कुछ नहीं होता हो। छात्र संघों को अपराधियों के अड्डों के रूप में प्रचारित किया गया और छात्र राजनीति की कुछ ऐसी छवि बनायी गयी मानो परिसर की हर अर्थव्यवस्था के लिए वही जिम्मेदार हो। ऐसा नहीं है कि इस प्रचार में सचाई बिल्कुल नहीं थी लेकिन वह पूरी सचाई नहीं थी। तथ्य यह है कि परिसरों में प्रशासन ने एक सुचिंतित नीति के तहत ऐसे तत्वों और उनकी गतिविधियों को प्रोत्साहित किया, उन्हें पूरा संरक्षण दिया जिससे न सिर्फ विश्वविद्यालय के संसाधनों की लूटपाट में मदद मिलती थी बल्कि उससे काले कारनामे भी छुप जाते थे। इस तरह परिसरों की छात्र राजनीति या शिक्षक राजनीति, उसे खिलाओ-पिलाओ, भ्रष्ट बनाओ, बदनाम करो और दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंको की नीति पर चल कर खत्म किया गया।

इसके बाद दूसरे चरण में परिसरों की असली समस्या कानून और व्यवस्था की समस्या के रूप में पेश की गयी। इसके हल के लिए परिसरों में पुलिस के थाने खोले जाने लगे, पीएसी और दूसरे अर्धसैनिक बलों की स्थायी छावनियां बनायी गयीं, छात्र संघों को भंग कर दिया गया और विश्वविद्यालयों में आईएएस अफसरों और रिटायर्ड सैनिक अधिकारियों की कुलपति के रूप में नियुक्ति का चलन शुरू हुआ। जैसे मुम्बई विश्वविद्यालय परिसर में स्थायी रूप से धारा 144 थोप दी गयी, अलीगढ़ और जामिया विश्वविद्यालयों में छात्रसंघों को भंग कर क्रमशः एक आईएएस अधिकारी और सेना के रिटायर्ड लेफ्टिनेंट जनरल को कुलपति बनाया गया, बीएचयू में छात्र संघ को खत्म कर परिसर में पीएसी की स्थायी छावनी कायम कर दी गयी, बिहार में डेढ़ दशक से छात्र संघों के चुनाव स्थगित हैं और शायद ही कोई विश्वविद्यालय परिसर बचा हो जहां प्रॉक्टोरियल बोर्ड की आड़ में सशस्त्र निजी सुरक्षा कमांडो दस्ते न खड़े कर दिये गये हों। कुलपति फौज-फाटे के बीच रहते हैं और विश्वविद्यालय प्रशासन व आम छात्रों-शिक्षकों-कर्मचारियों के बीच कोई संवाद नहीं है। परिसरों में पुलिसिया आंतक का राज है। एक किस्म की अघोषित इमरजेंसी लगी हुई है।

सैन्यीकरण की इसी प्रक्रिया की अगली कड़ी है परिसरों में किसी भी किस्म की राजनीतिक गतिविधि पर रोक लगाने के लिए कानून बनाने की सिफारिश जिसका तात्पर्य यह हुआ कि अघोषित इमरजेंसी को घोषित और औपचारिक रूप से लागू कर दिया जाय। जाहिर है कि इस सिफारिश के निहितार्थ बहुत खतरनाक हैं। यह सीधे-सीधे लोकतंत्र की जड़ पर हमला है। राजनीतिक गतिविधि पर रोक लगाने की मांग सिर्फ विश्वविद्यालय परिसरों तक सीमित नहीं रहने वाली है। कल को कारखानों में भी ऐसी ही मांग उठेगी और सार्वजनिक जीवन में राजनीति के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाने का प्रस्ताव होगा। उस दिन इस आपातकाल के खिलाफ बोलना राजनीति करना होगा जिसकी इजाजत देश में नहीं होगी।

सवाल है कि क्या परिसरों में कानून बनाकर राजनीतिक गतिविधियों को रोक देने से ज्ञान-विज्ञान और शोध के क्षेत्र में हमारे विश्वविद्यालय नयी ऊंचाइयां छूने लगेंगे ? उनका स्तर सुधर जाएगा? दुनिया में क्या ऐसा कोई उदाहरण है? कहने की जरूरत नहीं है कि अंबानी-बिड़ला ऐसा एक भी उदाहरण नहीं दे सकते हैं। उल्टे आतंक और तानाशाही के माहौल में अच्छे-अच्छे विश्वविद्यालयों के पतन

के दर्जनों उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं। राजनीतिक गतिविधियों पर रोक की आड़ में तानाशाहों ने दुनिया भर में सबसे ज्यादा जुल्म बुद्धिजीवियों पर ही किये हैं। ऐसे ही माहौल में आइंस्टाइन को जर्मनी छोड़कर भागना पड़ा, गैलीलियो व कॉपरनिक्स को जेल में ठूंस दिया गया और जिआर्दानो ब्रूनो को जिन्दा जला दिया गया। इसकी वजह यह है कि परिसर ही वह जगह है जहां से बनी-बनायी परम्पराओं, मान्यताओं, रूढ़ियों और विचारों को सबसे पहले बौद्धिक चुनौती मिलती है। यही वह जगह है जहां से निरंकुश सत्ताएं प्रगतिशील विचारों को राजनीति बताकर कुचलने की कोशिश करती हैं। राजनीति, चाहे वह वाजपेयी सरकार की हो या उसके सलाहकार परिषद की, जब देश का भविष्य तय कर रही हो तब इस राजनीति का भविष्य तय करने के लिए परिसरों को आगे आना ही होगा। सचमुच, राजनीति इतनी गम्भीर चीज है कि उसे अंबानियों-बिड़लाओं के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है।

अपहरण होने से बचाइए !

कपिल कुमार

यह तो सर्वविदित है कि उद्योगपति मुनाफा कमाने में कोई कसर नहीं छोड़ते लेकिन आज बिड़ला-अंबानी रिपोर्ट ने देश की उच्च शिक्षा को भी इसी दायरे में लाकर खड़ा कर दिया है। उच्च शिक्षा इन उद्योगपतियों के लिए एक बड़ा बाजार है जहां शिक्षा को एक उत्पाद के रूप में बेचकर ये मुनाफा कमाना चाहते हैं। इनके रास्ते में अगर कोई रोड़ा आ रहा है तो वह है सरकारी शैक्षिक संस्थाएं, विश्वविद्यालय और कालेज। इस व्यवधान को दूर करने के लिए अंबानी और बिड़ला ने जो सिफारिशें अपनी रिपोर्ट में प्रधानमंत्री को भेजी हैं वे इतनी खतरनाक हैं कि यदि मान ली गयीं तो उच्च शिक्षा के दरवाजे केवल गरीब छात्रों के लिए ही नहीं बंद हो जाएंगे वरन मध्यम श्रेणी के छात्र भी इससे हाथ धो बैठेंगे। यह एक ऐसी साजिश है जिसके द्वारा उच्च शिक्षा केवल सोने-चांदी के पालने में पले छात्रों को ही दी जाएगी और अमीर घरानों का उच्च शिक्षा के क्षेत्र में वर्चस्व स्थापित हो जाएगा। फ्रांस की क्रांति से पहले वहां एक कहावत थी कि 'सेनापति पालनों में पैदा होते हैं' क्योंकि सामंत लोग अपने बच्चों के लिए ये पद खरीद लेते थे। कुछ ऐसी ही स्थिति आज के युग में अंबानी और बिड़ला भारत में पैदा करना चाहते हैं। उनका मानना है कि सरकार को उच्च शिक्षा क्षेत्र से अपने को हटा लेना चाहिए और बड़े पैमाने पर विश्वविद्यालय शिक्षा प्रणाली का निजीकरण किया जाना चाहिए। वास्तव में यह विचार 'निजीकरण' शब्द की आड़ में शिक्षा का वाणिज्यीकरण करना है जिससे कि उद्योगपति इस क्षेत्र में पैसा लगाकर मुनाफा कमा सकें। रपट में कई अजीबोगरीब सिफारिशें की गयी हैं जैसे भारतीय शिक्षा प्रणाली का बाजारीकरण किया जाय, विश्वविद्यालयों के अनुदान समाप्त किये जाएं, जिस प्रकार से वित्तीय संस्थाओं का बाजार में मूल्यांकन किया जाता है उसी आधार पर शैक्षिक संस्थानों का भी किया जाय और जो संस्थान इसमें खरे नहीं उतरते उन्हें बंद किया जाय, छात्रों की फीस बढ़ा दी जाय आदि। इसी के साथ-साथ सूचना और प्रौद्योगिकी तथा प्रबंधन के क्षेत्र में निजी विश्वविद्यालय खोलने की बात बहुत जोर देकर कही गयी है।

व्यक्तिगत तौर पर मैं निजीकरण का विरोधी नहीं हूं, क्योंकि भारत की उच्च शिक्षा प्रणाली का ढांचा पिछले 150 वर्षों में निजी प्रयासों द्वारा ही खड़ा किया गया और मजबूत बनाया गया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ और भारत के कोने-कोने में फैले न जाने कितने निजी कालेज इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। परंतु इन निजी प्रयासों के पीछे उद्देश्य मुनाफा कमाना न होकर समाज सेवा और देश निर्माण था। हमें इस बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारी उच्च शिक्षा प्रणाली कुछ खामियों के बावजूद एक सफल प्रणाली रही है और प्रत्येक क्षेत्र में इसने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आज की नौकरशाही, इंजीनियर, डॉक्टर, शिक्षक, नेता और यहां तक कि उद्योगों में काम करने वाले प्रबंधक इसी उच्च शिक्षा प्रणाली की देन हैं। वे हार्वर्ड या कैम्ब्रिज से पढ़कर नहीं आये हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी आज जो सर्वोच्चता भारत ने हासिल की है वह इसी प्रणाली की देन है। हर क्षेत्र में महारथी बनाने के बावजूद यदि भारतीय मानस ने इस देश से बाहर नौकरी ढूंढी तो उसके लिए भारतीय उद्योगपति उत्तरदायी हैं। हमारे देश के संपन्न और उर्वरक मस्तिष्क का उपयोग भारतीय उद्योगपति न तो औद्योगिक शोध के लिए कर पाया और न ही उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें नौकरी दे पाया। अफसोस यह है कि आज हमारे इंजीनियरिंग कालेजों और केंद्रीय विश्वविद्यालयों में 40 प्रतिशत शिक्षक पद रिक्त पड़े हुए हैं। कोई भी मेधावी छात्र एम.टेक, एम.सी.ए., एम.आई.टी. इत्यादि की डिग्री उच्च श्रेणी में लेने के बाद शिक्षक नहीं बनना चाहता है। इसका कारण सिर्फ एक है कि जो तनख्वाह और सुविधाएं उसे शिक्षा के क्षेत्र से बाहर नौकरी करने पर मिलती हैं वह शिक्षा क्षेत्र में उपलब्ध नहीं हैं। यदि देश की शिक्षा प्रणाली को और मजबूत बनाना है और भविष्य में आने वाले छात्रों को अच्छी से अच्छी शिक्षा दी जानी है तो इसके लिए सबसे पहला कार्य योग्यतम शिक्षक उपलब्ध कराना होगा परंतु इसका जिक्र कहीं अंबानी और बिड़ला रिपोर्ट में नहीं है। आज शिक्षा की बहुत सी दुकानें देश के चप्पे-चप्पे में खुल चुकी हैं और इनके मालिक खुलेआम शिक्षा का व्यापार कर रहे हैं। बड़ा अच्छा होता यदि अंबानी और बिड़ला अपनी सिफारिशें देने से पहले एक नजर इन दुकानों पर भी डाल लेते। क्या इन दुकानों में योग्य शिक्षक हैं ? कितने लाख रुपये ये 'दुकानें' प्रत्येक छात्र से लेती हैं और बदले में क्या पढ़ाती हैं ? कितने विद्यार्थी अपनी

शिक्षा यहां बीच में ही छोड़ जाते हैं और कितने विद्यार्थियों के साथ यहां धोखाधड़ी की जाती है ? खैर, इस सबसे बिड़ला-अंबानी का क्या वास्ता ? उनके लिए तो सारी त्रुटियां विश्वविद्यालयों में ही हैं।

यह एक यथार्थ है कि भारत के उद्योगपतियों ने सरकारी संरक्षण के तहत पनपना सीखा और अपना एकाधिकार स्थापित किया। ये उद्योगपति तो अपने उत्पादों के क्षेत्र में शोध और विकास तक नहीं कर पाये। सवाल यह है कि भारतीय विश्वविद्यालयों ने अपने दरवाजे इनके लिए कब बंद किये थे ? कितने उद्योगपतियों ने शिक्षा के विकास के लिए अनुदान दिये या शोध के लिए विश्वविद्यालयों से समन्वय स्थापित किया, ऐसा तब जबकि इस क्षेत्र में धन देने से उन्हें आयकर में भी छूट प्राप्त थी। वास्तव में उन्हें न शोध से वास्ता है न आयकर छूट से। उनका वास्ता है सिर्फ मुनाफा कमाने से और अगर ऐसा नहीं है तो क्या वह बिना मुनाफा कमाये या बिना वित्तीय लाभ उठाये निजी विश्वविद्यालय चलाएंगे ?

संपन्न पाश्चात्य देशों से शिक्षा के प्रारूप और ढांचों को उठाकर भारत के परिवेश में थोपना इन उद्योगपतियों के लिए एक फैशन बन गया है। इन संपन्न देशों की प्रबंध तकनीक, शोध नीति आदि को अपने उद्योगों में लागू करते हुए तो ये कतराते हैं, लेकिन वास्तविकता का जायजा लिये बिना उन प्रारूपों के केवल चंद पहलुओं और कालेजों के मूल्यांकन की इनकी बात मान ली जाय तो उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारत के 95 प्रतिशत विश्वविद्यालय और कालेज बंद हो जाएंगे। आवश्यकता इन संस्थाओं का मूल्यांकन कर उन्हें बंद करने की नहीं है बल्कि कमजोर संस्थाओं को सरकारी मदद से और मजबूत बनाने की है। वास्तव में शिक्षा संस्थाओं के मूल्यांकन का विषय अपने में एक अलग बहस का मुद्दा है।

जिस प्रकार से अंग्रेजों ने भारत में 200 वर्ष पूर्व अपनी शिक्षा प्रणाली से यह प्रयास किया था कि उनके लिए बाबू उपलब्ध हो सकें, उसी प्रकार अंबानी और बिड़ला अब एक ऐसी शिक्षा प्रणाली लाना चाहते हैं, जो उनके लिए और उनके छत्रधारी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए सस्ते मजदूर और बाबू दे सकें। मैनेजर बनेंगे केवल उनके निजी विद्यालयों में लाखों रुपये खर्च कर पढ़े-लिखे अमीरों के बेटे। किसी भी विकासशील समाज में उच्च शिक्षा का उद्देश्य मात्र बाजार की मांग को

मान लिया गया तो समाज में न तो विचार जन्मेंगे, न तर्क की कोई जगह होगी और न ही विचारधारा का कोई स्थान रहेगा। समस्त शिक्षा प्रणाली और समाज केवल बाजार का गुलाम बनकर रह जाएगा और यह हमारी संस्कृति और परंपरागत धरोहर पर एक आघात होगा। मेरी दृष्टि में बाजार उच्च शिक्षा का निर्धारक नहीं हो सकता। उद्योगपतियों की जरूरतों को पूरा करने के विरुद्ध उच्च शिक्षा के समाज में बहुत से दायित्व और कार्य हैं। सामाजिक मूल्यों को जीवित रखना, ज्ञान का विकास, मानवाधिकार, स्त्री अधिकारों की रक्षा, दर्शन, कलाएं, संगीत, सांस्कृतिक विकास आदि उच्च शिक्षा से अलग नहीं किये जा सकते। बिड़ला-अंबानी यह चाहते हैं कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भी पंगु बना दिया जाय। उसका कार्य केवल कलाओं को अनुदान देने तक सीमित कर दिया जाय। मानविकी और सामाजिक विज्ञानों की किसी भी समाज में एक अलग अहमियत है और मुझे यह विश्वास है कि अंबानी-बिड़ला जैसे व्यक्ति चाहे कितने भी प्रहार क्यों न कर लें, देश को यही विषय जीवित रखेंगे न कि भाव रहित सूचना और प्रौद्योगिकी। देखना तो यह है कि जो टिप्पणियां अंबानी-बिड़ला ने विश्वविद्यालय में राजनीति की भूमिका को लेकर की हैं उन पर हमारे राजनीतिज्ञ क्या करते हैं। बिड़ला-अंबानी यह भूल गये हैं कि भारत की आजादी की लड़ाई में विश्वविद्यालयों ने एक अहम भूमिका निभायी थी। भारतीय लोकतंत्र को सशक्त करने में विश्वविद्यालय महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। आज के कई ईमानदार नेता छात्र आंदोलन और छात्र राजनीति की देन हैं। बिड़ला-अंबानी को विश्वविद्यालयों में राजनीति पनपने से तो बहुत चिढ़ है पर जो अपराधीकरण समाज और शिक्षा के क्षेत्र में हो रहा है उस पर वे पूर्णतया शांत हैं। शायद इसलिए कि कोई अपराधी पिस्तौल दिखा कर लूटता है और कोई टैक्स चोरी करके देश को लूटता है। कोई अपराधी अपहरण करके फिरौती मांगता है तो बिड़ला-अंबानी रिपोर्ट पूरे देश की शिक्षा प्रणाली का अपहरण कर आम जनता से फिरौती मांगने का एक ऐसा आपराधिक षड्यंत्र है जिसका जवाब देश की जनता को देना होगा और वही इसे विफल करेगी।

दाखिला से वंचित दलित

चन्द्रभान प्रसाद

उच्च शिक्षा के निजीकरण का अर्थ है दलितों को उच्च शिक्षा से वंचित करना। क्योंकि पूर्व में हमने देखा है कि किस तरह दलित जातियों के बच्चों के स्कूलों में जाने के कारण सवर्ण जातियां इतनी क्रुद्ध हो गयी थीं कि उन्होंने दलितों और अस्पृश्य जातियों के गांवों को आग के हवाले कर दिया था। सुप्रसिद्ध 'वुड्स डिस्पैच' (1854) को भारत में जन-शिक्षा का 'मैग्नाकार्टा' कहा जाता है। इसके आने के बाद ब्रिटिश हुकूमत को जन शिक्षा लागू करने में काफी मुसीबत उठानी पड़ी थी। अस्पृश्यों के गांव के गांव जला दिये गये थे। बंगाल से बम्बई तक सरकार ने सख्ती का रुख अपनाया तो सवर्ण जातियों ने अपने बच्चों को स्कूलों से वापस बुलाना शुरु कर दिया था। हारकर सरकार ने देश भर में अस्पृश्यों के लिए अलग स्कूल खोले थे। बोर्ड ऑफ एजुकेशन, बाम्बे प्रेसीडेंसी की 1950-52 की रिपोर्ट में कहा गया था-''इसमें संदेह नहीं, यदि अस्पृश्यों के भीतर एक ऐसा वर्ग बनता है जो प्राध्यापकों से शिक्षा लेकर न्यायाधीश, राज्यपाल आदि पदों पर बैठना चाहेगा तो उनकी आकांक्षा को कौन रोक पाएगा।''

रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि यदि ब्रिटिश हुकूमत अस्पृश्य वर्ग को उच्च पदों से वंचित करती है तो अनेक सहृदय लोग इसे सरकार की गैर-उदारवादिता की हद कहेंगे। यह रिपोर्ट तत्कालीन ब्रिटिश हुकूमत की इस उलझन को प्रकट करती है कि अंग्रेज अस्पृश्यों को शिक्षा तो दिलाना चाहते थे, लेकिन सवर्ण वर्ग इसका प्रतिरोध करेगा इस बात से वे चिन्तित भी थे। आज उच्च शिक्षा के निजीकरण की कवायद हो रही है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की रिपोर्ट कहती है कि वर्ष 2000 में कुल 20.59 करोड़ दलित हैं जिनमें से मात्र 2618 ही पी.एच.डी. और 76928 स्नातकोत्तर कक्षाओं में हैं यानी बगैर निजीकरण के भी वे उच्च शिक्षा से बाहर हैं और निजीकरण के बाद तो हालात और बदतर हो जाएंगे। शिक्षा का अर्द्ध निजीकरण पहले से ही है। भारत में शिक्षण संस्थाएं मुख्यत: तीन श्रेणियों में आती हैं - पूर्ण सरकारी, सरकारी किन्तु स्वायत्त और निजी। पूर्ण सरकारी शिक्षण संस्थाओं में दलितों को काफी राहत है क्योंकि यहां संविधान को पूरी तरह लागू करना पड़ता है चाहे मामला छात्रों के प्रवेश का हो या फिर अध्यापकों की नियुक्ति का। लेकिन स्वायत्त संस्थाएं जिनमें मुख्यत: कॉलेज एवं विश्वद्यिालय आते हैं वहां दलितों की दशा बदतर है। यद्यपि इन संस्थाओं का सारा खर्च सरकार वहन करती है, लेकिन अकादमिक स्वायत्तत्ता के नाम पर यहां

संविधान को आधा-अधूरा लागू किया जाता है। मेरिट के नाम पर दलितों को दाखिला दिलाने की गुजांइश खत्म कर दी गयी है और इस वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों को शिक्षक के रूप में नियुक्ति नहीं मिलती। इस तरह इनमें से अधिकांश कॉलेज-विश्वविद्यालय निजी संस्थाओं से भी बदतर हैं। इन संस्थाओं का सारा खर्च सरकार उठाती है पर इनका आचरण निजी संस्थाओं जैसा है। ये दलितों को वंचित तो करते ही हैं उन पर 'गैर-मेरिटोरियस' होने का ठप्पा भी लगाया जाता है।

तीसरी श्रेणी में इंग्लिश मीडियम के पब्लिक स्कूल या धार्मिक संगठनों द्वारा चलाये जा रहे शिक्षालय आते हैं। अंग्रेजी माध्यम के इन स्कूलों को इस अर्थ में सबसे ज्यादा खतरनाक कह सकते हैं कि ये देश के प्रभु वर्ग के बच्चों को पढ़ाते हैं जो उच्च पदों पर जाते हैं, एकेडमिक संस्थाओं पर भी इनका कब्जा हो जाता है। यहां तक कि विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं में बंटे होने के बावजूद भी दलित बहिष्कार के प्रश्न पर ये लोग एकजुट हो जाते हैं। क्या किसी वामपंथी या दक्षिणपंथी या सामाजिक न्यायवादी संगठन ने राष्ट्रीय स्तर पर यह मांग उठायी कि अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में संविधान लागू होना चाहिए ? या कभी संसद में विपक्ष ने इस मसले पर बहिष्कार किया है ? सवाल निजीकरण या सरकारीकरण का नहीं है। देश की मुख्य उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थाएं मूलतः निजी हाथों में हैं जहां प्रवेश या नियुक्ति के लिए सवर्ण होना पहली शर्त है। संविधान को हर जगह लागू किया जाना चाहिए, चाहे सरकारी संस्थान हों या गैर सरकारी। दलितों को कम से कम उनका एक-चौथाई हिस्सा मिले। ठीक वैसे ही जैसे अमरीका में होता है। भारत में दलितों की वंचना की कोई तुलना अगर किसी समाज से हो सकती है तो वह अमरीकी और दक्षिण अफ्रीकी समाज है जहां कालों को दलितों की तरह शिक्षण संस्थाओं से दूर रखा गया था। 1960 में वहां काले और गोरों के बीच व्यापक स्तर पर हिंसा भड़क उठी थी। अमरीकी समाज संकट के दौर में फंस गया था। फिर शांति की आकांक्षा प्रबल हुई। गोरे समाज ने सम्पति और संस्थाओं पर अपने कब्जे को लेकर गौर करना शुरु किया। परिणाम सकारात्मक निकला। कालों, रेड इंडियनों और हिसपैनिक्स की शिक्षण संस्थानों में भागीदारी मंजूर की गयी।

भारत में जो लोग संविधान को लागू करवाने में आगे नहीं आना चाहते, वे 'वीरप्पन' की मानसिकता पाले हुए हैं कि संविधान को नहीं मानना है। बहस इस बात पर केन्द्रित होनी चाहिए कि दलितों को संविधान में निर्धारित उनका हक मिले। जब संस्थाओं का निजीकरण नहीं हुआ था, तब भी वे संस्थाएं निजीकरण जैसे ही बर्ताव करती थीं। कोई भी संस्था संविधान से ऊपर नहीं है। इसलिए गणतंत्र हर जगह लागू होना चाहिए।

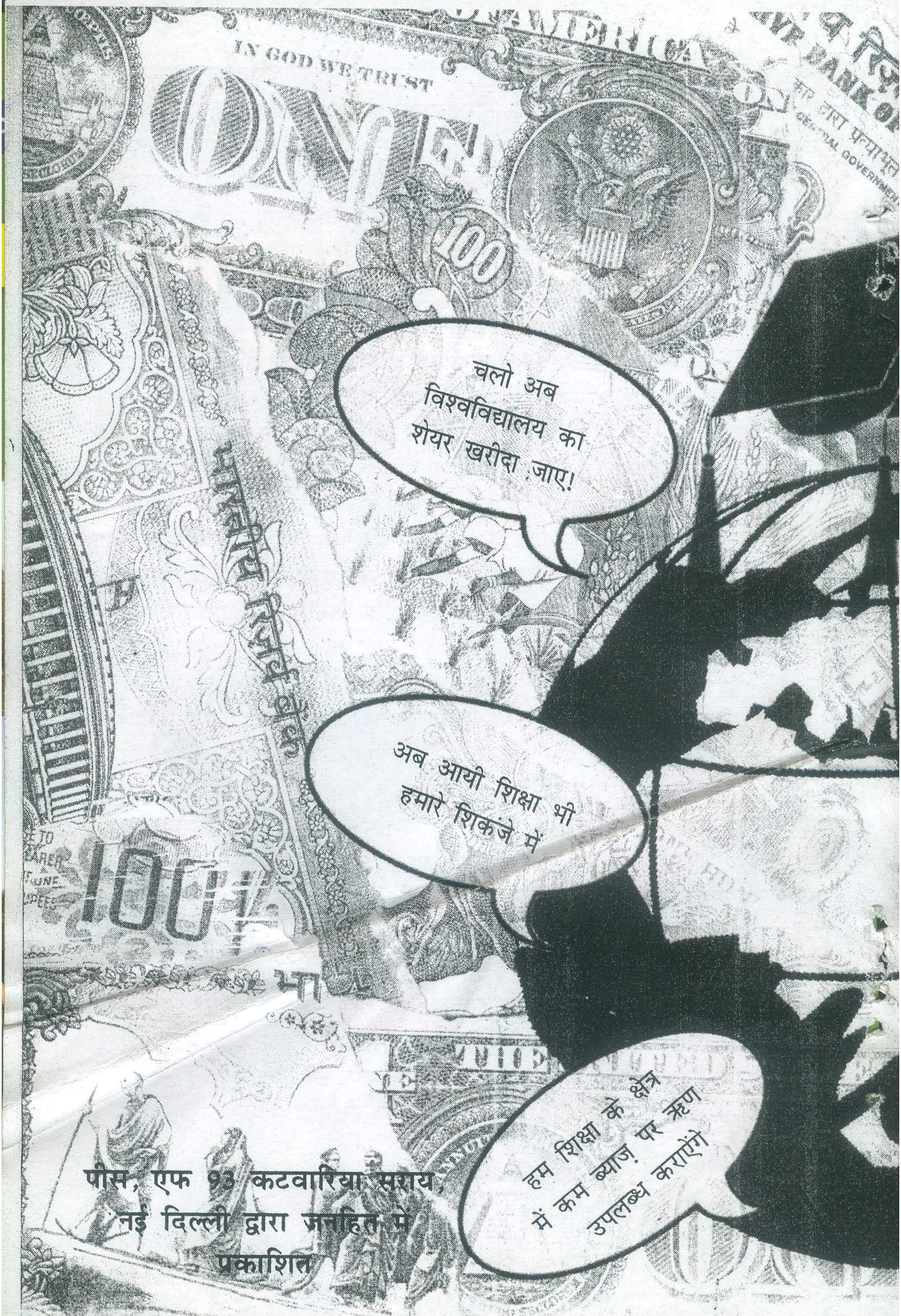

पीस, एफ 93 कटवारिया सराय, नई दिल्ली द्वारा जनहित में प्रकाशित